

राष्ट्र की प्रगति के लिए हिन्दी की सर्वस्वीकार्यता आवश्यक



मनुष्य के जीवन की भाँति समाज और राष्ट्र का जीवन भी सतत विकासमान प्रक्रिया है। इसलिए जिस प्रकार मनुष्य अपने जीवन में सही-गलत निर्णय लेता हुआ लाभ-हानि के अवसर निर्मित करता है और सुख-दुख सहन करने को विवश होता है उसी प्रकार प्रत्येक समाज और राष्ट्र भी एक इकाई के रूप में अपने मार्गदर्शक-सिद्धांत और नीतियाँ निर्धारित करता हुआ लाभ-हानि का सामना करता है। मनुष्य और समाज दोनों को ही समय-समय पर अपनी नीतियों-रीतियों का उचित मूल्यांकन करते रहना चाहिए। हानि सहकर भी दुराग्रह पूर्वक एक ही लीक पर आँख मूंदकर निरंतर चलते रहना न तो व्यक्ति के हित में होता है और न ही समाज के। अतः पूर्व निर्धारित नीतियों और अतीत में किए गए कार्यों की समीक्षा करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता है किंतु दुर्भाग्य से क्षेत्रीय स्तर पर निजी स्वार्थों की सिद्धि के लिए दल-हित-साधन की दलदल में धंसी भारतीय राजनीति के अनेक घटक अपनी भूलों में संशोधन करने को तत्पर ही नहीं हैं। जम्मू कश्मीर राज्य से संबंधित धारा 370 और 35-ए को हटाए जाने पर विपक्षी दलों की प्रतिक्रियाएं इस सत्य की साक्षी हैं। और अब गृहमंत्री श्री अमित शाह के 'एक राष्ट्र एक भाषा' के वक्तव्य पर देश के सर्वाधिक महत्वपूर्ण विपक्षी राष्ट्रीय दल कांग्रेस सहित छः राज्यों के आठ क्षेत्रीय दलों की प्रतिक्रियाएं भी इसी ओर संकेत करती हैं।

यह आश्चर्यजनक किंतु दुःखद सत्य है कि बीसवीं शताब्दी के छठे और सातवें दशक में जिस सत्तासीन राजनीतिक दल (कांग्रेस) ने बहुमत के सहारे मनमाने निर्णय लेते हुए अनेक ऐसे संविधान-संशोधन कर लिए जो संविधान की मूल-भावना के प्रतिकूल थे, अधिकांशतः त्रुटिपूर्ण थे और देश की एकता, अखंडता और संप्रभुता के लिए हानिकारक थे किंतु अब जबकि तत्कालीन कमजोर विपक्ष आज उसी बहुमत की शक्ति से शक्तिशाली होकर उन त्रासद-संशोधनों को पुनरीक्षित संशोधित करना चाहता है; कर रहा है तब उसी राजनीतिक दल के द्वारा विरोध किया जा रहा है। यह संतोष का विषय है कि उस दल के अनेक सदस्य भी देश हित को ध्यान में रखकर उदारतापूर्वक सत्तासीन विपक्षी दल के प्रयत्नों का समर्थन कर रहे हैं। दलगत राजनीति से ऊपर उठकर राष्ट्रहित में नीतियों के परिष्कार-संशोधन के प्रति उनकी यह उदार स्वीकृति-सहमति स्पृहणीय है और हमारी स्वस्थ लोकतांत्रिक परंपरा को दृढ़ आधार प्रदान करती है।

भारत एक लोकतांत्रिक देश है हमारे संघीय ढांचे का आधार बहुमत है जिसमें बहुमत के समक्ष अल्पमत सदा अस्वीकृत होता है, जहां एक भी मत कम रह जाने पर सरकारें गिर जाती हैं ऐसी व्यवस्था के मध्य

पूर्व में यह संविधान संशोधन किया जाना कि जब तक एक भी अहिंदी भाषी राज्य विरोध करेगा तब तक हिंदी को राष्ट्रभाषा घोषित नहीं किया जाएगा कहां तक न्याय संगत और लोकतांत्रिक था ? एकमत के लिए बहुमत का तिरस्कार किया जाना कहाँ तक उचित था ? यदि वर्तमान सरकार इस संदर्भ में त्रुटि सुधार करने के लिए कोई नया कदम उठाये तो निश्चय ही उसका स्वागत किया जाना चाहिए। 'एक राष्ट्र एक भाषा' का विचार उपर्युक्त त्रुटि के सुधार का संकेत है।

प्रत्येक राजनीतिक दल के अपने आग्रह, दुराग्रह और पूर्वाग्रह होते हैं। इन्हीं के आलोक में दल अपना राजनीतिक कार्यक्रम निश्चित करता है और चुनावी घोषणा पत्र तैयार करता है तथा सत्ता में आता है। केंद्रीय अथवा राज्यों में सत्ता-परिवर्तन की आधार भूमि इन्हीं बिंदुओं से निर्मित होती है और अलग-अलग दल सत्ता में आकर अपनी घोषणाओं – कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करते हैं। इस स्थिति में पक्ष-विपक्ष के संकल्पों – कार्यों में भिन्नता होना स्वाभाविक है। अपने घोषणा पत्र में दिए गए जिन वचनों के आधार पर कोई दल जनादेश प्राप्त कर सत्ता में आता है उन वचनों, संकल्पों और घोषणाओं का यथासंभव निर्वाह करना उस दल का कर्तव्य भी है और दायित्व भी। यदि सत्ता पक्ष इस कर्तव्य-दायित्व का निर्वाह करता है तो विपक्ष द्वारा इसके अकारण विरोध का क्या औचित्य है ? आखिर कोई भी विपक्ष सत्ता-पक्ष से यह आशा-अपेक्षा क्यों करता है कि सत्ता पक्ष उसकी बनाई लीक पर ही चलेगा अपनी नई रेखा नहीं खींचेगा ? और यदि वर्तमान अथवा भविष्य की सरकारें समाज-विरोधी राष्ट्रीय-हितों के प्रतिकूल बनाई गई रूढ़ियों का ही परिपालन करती रहेंगी तो राष्ट्र की प्रगति और सुरक्षा कैसे संभव होगी ?

विश्व के सभी संप्रभुता संपन्न देशों में एक राष्ट्रभाषा है। प्रत्येक देश में बहुत सी बोलियां बोली जाती हैं तथा स्थानीय स्तर पर दैनंदिन व्यवहार उन्हीं बोलियों और भाषाओं में संपन्न होता है और उन सबके मध्य से सर्वाधिक महत्वपूर्ण समझी जाने वाली कोई एक भाषा सर्वस्वीकृत होकर राष्ट्रभाषा बन जाती है। भारतवर्ष के अतिरिक्त अन्य सभी राष्ट्रों में राष्ट्रभाषा के रूप में किसी एक भाषा का चयन सर्वथा सहज-स्वाभाविक है जबकि भारत जैसे संप्रभुता संपन्न विश्व के सबसे बड़े लोकतांत्रिक देश में राष्ट्रभाषा की सर्वमान्य स्वीकृति स्वतंत्रता प्राप्ति के सत्तर वर्ष उपरांत आज भी प्रश्नांकित है ; संकीर्ण क्षेत्रीयता परक मानसिकता की स्वार्थसाधिनी विघटनकारी राजनीति का शिकार है।

यह स्वतः सिद्ध है कि भारत ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध स्वतंत्रता की लड़ाई हिंदी भाषा के माध्यम से लड़ी। गुजरात, बंगाल, महाराष्ट्र जैसे बड़े-बड़े प्रांतों के सभी बड़े नेताओं ने हिंदी के माध्यम से देश का नेतृत्व किया और आज भी कर रहे हैं। महात्मा गांधी, सुभाषचंद्र बोस और लोकमान्य बाल गंगाधर तिलक जैसे नेताओं की राष्ट्रीय-लोकप्रियता हिंदी की ऋणी है। यदि गुजराती भाषी महात्मा गांधी केवल गुजराती भाषा तक ही स्वयं को सीमित रखते तो क्या संपूर्ण भारत को प्रभावित और प्रेरित कर सकते थे ? क्या गुजराती भाषी श्री नरेंद्र मोदी हिंदी का आश्रय लिए बिना देश में इतनी लोकप्रियता अर्जित कर सकते हैं ? तात्पर्य यह है कि इस विशाल देश के किसी भी भू-भाग में जनमें किसी भी व्यक्ति को यदि राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठित होना है तो उसे देश में सर्वाधिक प्रयुक्त होने वाली भाषा को सीखना और स्वीकार करना ही होगा। प्राचीन भारत में भारतवर्ष की सर्वाधिक व्यवहृत भाषा संस्कृत थी और आधुनिक भारत में संस्कृत के स्थान पर हिन्दी प्रतिष्ठित है। आठवीं शताब्दी में केरल में जन्मे मूलतः मलयालम भाषी शंकराचार्य संस्कृत की शक्ति से संयुक्त होकर देश की एकता और अखंडता की

प्रतिष्ठा कर सके ; संपूर्ण भारतवर्ष को सांस्कृतिक सूत्र में पिरो सके तथा बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में नेताओं ने हिंदी के माध्यम से राजनीतिक चेतना की अलख जगाकर देश को स्वतंत्रता दिलायी। उस समय हिंदी के विरोध में कहीं भी कोई स्वर मुखर नहीं हुआ। 'उदंत मार्तंड' जैसा हिंदी का प्रथम समाचार पत्र बंगाल की धरती से प्रकाशित हुआ तो श्रद्धाराम फिल्लौरी जैसे हिंदी सेवी पंजाब की कोख से अस्तित्व में आए। महर्षि दयानंद ने हिंदी के माध्यम से अपने विचारों का आलोक प्रसारित किया तो महात्मा गांधी ने 'राष्ट्रभाषा प्रचार समिति' के माध्यम से सुदूर दक्षिण तक हिंदी का परचम लहराया।

यह तथ्य कितना आश्चर्यजनक है कि वर्तमान गृहमंत्री के वक्तव्य के विरुद्ध एक स्वर में लामबंद होने वाले ये विपक्षी दल महात्मागांधी को तो मानते हैं लेकिन महात्मागांधी की हिंदी के पक्ष में कही गई बातों को मानने के लिए तैयार नहीं हैं। आखिर क्यों ? क्या हिंदी के पक्ष में गांधीजी के संदेश असंगत, अनुचित और देश विरोधी हैं ? यदि नहीं तो उन्हें स्वीकार करने में आपत्ति क्या है ? हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाए जाने के संदर्भ में महात्मा गांधी का यह कथन विशेषतः रेखांकनीय है – “हिंदी को आप हिन्दी कहें या हिंदुस्तानी, मेरे लिए तो दोनों एक ही हैं। हमारा कर्तव्य यह है कि हम अपना राष्ट्रीय कार्य हिंदी भाषा में करें।” (भाषण : मुजफ्फरपुर में 11 नवंबर 1917, विश्व सूक्तिकोष-खंड 3, पृष्ठ 1317 पर उद्धृत, संपादक- डॉ श्याम बहादुर वर्मा, प्रकाशक -प्रभात प्रकाशन दिल्ली 110006 संस्करण प्रथम 1985)– महात्मा गांधी का यह सौ वर्ष पुराना संदेश उनके ही दल के झंडाबरदारों को क्यों समझ में नहीं आया- यह प्रश्न भी विचारणीय है ?

सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टि से भारत प्राचीन काल से एक है। उत्तर में हिमालय के उत्तुंग शिखरों पर केदारनाथ में प्रतिष्ठित भगवान भूतभावन शिव दक्षिण भारतीयों के भी उपास्य हैं और सुदूर दक्षिण में सागर तट पर संस्थित रामेश्वरम उत्तर भारतीयों के लिए भी पूज्य हैं। गंगोत्री से गंगा का जल लेकर श्रद्धालु रामेश्वरम पर अर्पित करते हैं। द्वादश ज्योतिर्लिंग और वावन शक्तिपीठों ने सहस्रों वर्षों से भारतवर्ष को जोड़ रखा है। हमारा ध्वज एक है, हमारी मुद्रा एक है, हमारा संविधान एक है, हमारे महापुरुष एक हैं, हमारे धार्मिक ग्रंथ एक हैं– सब कुछ एक सा है फिर भाषा के प्रश्न पर ही हम एक क्यों नहीं हैं ? देश में सबसे अधिक बोली और समझी जाने वाली हिंदी भाषा के प्रति हमारे विरोध का कारण क्या है ? यह समझ से परे है।

गृहमंत्री श्री अमित शाह ने हिंदी दिवस के अवसर पर दिल्ली में आयोजित एक समारोह में 'एक राष्ट्र एक भाषा' का समर्थन किया है। यहाँ एक राष्ट्र में एक भाषा का आशय हिन्दी एतर अन्य भाषाओं की समाप्ति होता तो निश्चय ही यह स्वीकृति योग्य नहीं हो सकता था किंतु यदि देश की अन्य समस्त भाषाओं के मध्य राष्ट्रीय और वैश्विक स्तर पर एक भाषा के चयन का प्रश्न हो तो यह सर्वथा स्वागत के योग्य ही है क्योंकि हमें विश्व के समक्ष अपनी बात रखने के लिए एक भारतीय भाषा अवश्य चाहिए। आखिर यह संप्रभुता संपन्न सुविशाल राष्ट्र कब तक विश्व-पटल पर अपनी बात किसी विदेशी भाषा में रखता रहेगा ? क्या अपने देशवासियों के समक्ष अपने देश की भाषा में अपनी बात रखना अथवा विश्व पटल पर किसी भारतीय भाषा में भारत का पक्ष रखना आत्मगौरव का विषय नहीं है ? क्या यह उचित है कि हम जिन अंग्रेजों के गुलाम रहे हैं उन्हीं की भाषा का जुआ आजादी के बाद भी गले में डाले रहें ? स्वतंत्र भारत के प्रथम प्रधानमंत्री ने यदि देश और विश्व के स्तर पर समस्त भारतीय भाषाओं को उपेक्षित कर अंग्रेजी को वरीयता दी तो आज भी हम उसे ही अपना सिरमौर बनाए रहें ? देश और विश्व

के स्तर पर आज एक भारतीय भाषा की सर्वमान्य स्वीकृति की आवश्यकता है और इस आवश्यकता की पूर्ति भारत सरकार का कर्तव्य है। यह सुखद है कि वर्तमान सरकार इस दिशा में प्रयत्नरत है। पूर्व प्रधानमंत्री स्वर्गीय अटलबिहारी वाजपेयी की भाषानीति का आदर करते हुए वर्तमान प्रधानमंत्री श्री नरेंद्र भाई मोदी विश्वमंच पर हिंदी की प्रतिष्ठा हेतु प्रयत्नशील हैं। हिंदी विश्व-भाषा बनने की दिशा में अग्रसर है किंतु देश के अंदर हिन्दी विरोध के अविवेक पूर्ण स्वर अभी भी मुखर हैं। तमिलनाडु की द्रमुक, डीएमके और अन्नाद्रमुक आदि दलों के नेताओं ने कहा है कि उन्हें हिन्दी स्वीकार नहीं है। तमिलनाडु के ही एमडीएमके चीफ वाईको ने धमकी दी है कि भारत में अगर हिन्दी थोपी गई तो देश बंट जाएगा। पुदुचेरी के मुख्यमंत्री नारायण स्वामी ने भी गृहमंत्री के वक्तव्य का सशक्त विरोध किया है। पश्चिम बंगाल की तृणमूल कांग्रेस प्रमुख और मुख्यमंत्री ममता बनर्जी सहित वहाँ के वामपंथी दल भी हिंदी के विरुद्ध विष-वमन कर रहे हैं। कर्नाटक, केरल और तेलंगाना के क्षेत्रीय दल भी हिंदी के विरोध में हैं जबकि हिंदी के विरोध का कोई ठोस कारण इनमें से किसी के पास नहीं है। यह दुखद है कि ये राज्य विदेशी भाषा अंग्रेजी का कभी विरोध नहीं करते। अंग्रेजी की दासता का मुकुट धारण करने में उन्हें कोई आपत्ति नहीं है किंतु हिंदी की स्वदेशी पगड़ी पहनना इन्हें स्वीकार नहीं। इन्हें अंग्रेजी से भय नहीं है अंग्रेजी के बढ़ते वर्चस्व से इन्हें अपनी क्षेत्रीय भाषाओं की प्रगति में कोई बाधा नजर नहीं आती। अंग्रेजी सीखने को यह अंग्रेजी का थोपा जाना नहीं मानते किंतु हिंदी सीखने को यह हिंदी का थोपा जाना मानते हैं उसका विरोध करते हैं। यह विरोध वाणिज्यिक, शैक्षणिक साहित्यिक तकनीकी आदि क्षेत्रों में नहीं है केवल राजनीतिक क्षेत्र में राजनेताओं की कुटिल बुद्धि की उपज है। भारतीय संविधान की दुहाई देने वाले इन हिंदी विरोधी राजनेताओं के भड़काऊ बयान देश की एकता और अखंडता के लिए घातक हैं।

हिंदी की प्रतिष्ठा का अर्थ क्षेत्रीय भाषाओं का महत्व कम होना नहीं है। यह विचारणीय है कि जब अंग्रेजी उत्तर और दक्षिण के मध्य सेतु बन सकती है तो हिन्दी यह कार्य क्यों नहीं कर सकती? जब शासकीय कार्यों में अंग्रेजी के अबाध उपयोग से क्षेत्रीय भाषाओं की कोई हानि नहीं मानी जा रही तो हिंदी के बढ़ते उपयोग से उनको क्या खतरा हो सकता है? अहिंदी भाषी राज्यों के जो नेता हिंदी के विरोध में हर समय ताल ठोकते रहते हैं, इतने नादान नहीं हैं कि उपर्युक्त तथ्यों से अनभिज्ञ हों। तथापि वे क्षेत्रीय जनमानस को भ्रमित कर, उसमें हिंदी के विरुद्ध कृत्रिम भय निर्मित कर अपनी राजनीतिक रोटियां सेकने में व्यस्त हैं। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति ना केवल हिन्दी अपितु समस्त भारतीय भाषाओं के लिए अहितकर है। इस विषयव्याधि का रामबाण उपचार केंद्रीय स्तर पर अंग्रेजी के वर्चस्व को हतोत्साहित कर उसके स्थान पर हिंदी को संस्थापित करना है। जब तक केंद्र में अंग्रेजी राजरानी बनी रहेगी तब तक हिन्दी शासन एवं संवैधानिक स्तर पर ना उत्तर में उचित सम्मान पा सकेगी और ना दक्षिण में उसकी स्वीकार्यता बढ़ पाएगी। यह अलग बात है कि शासन द्वारा विभिन्न स्तरों पर उपेक्षित होने के बावजूद हिन्दी अपनी शक्ति से विश्व स्तर पर निरंतर प्रतिष्ठित होगी। हिन्दी स्वयंप्रभा है। वह सत्ता की नहीं जनता की भाषा है और व्यापक जनसमर्थन से संपन्न है। अहिंदी भाषी राज्यों के हिंदी विरोधी तथाकथित राजनेताओं के दुराग्रह पूर्ण भाषण भले ही उनके थोड़े से क्षेत्र में हिंदी के प्रसार की गति धीमी कर लें किंतु विश्व-स्तर पर उसके बढ़ते पगो को थामने की सामर्थ्य उनमें नहीं है।

कैसी दुर्भाग्यपूर्ण विचित्र मानसिकता है जो एक ओर वैश्वीकरण के नाम पर हर विदेशी भाव, विषय,

वस्तु आदि को स्वीकार करने के लिए सहर्ष प्रस्तुत है किंतु दूसरी ओर अपने ही देश की प्रमुखतम भाषा हिन्दी को स्वीकार करने से परहेज करती है! कैसी विडंबना है कि विदेशों में हिन्दी का वर्चस्व बढ़ रहा है जबकि देश के अंदर एक वर्ग उसकी प्रगति में अवरोध उत्पन्न करने में व्यस्त है!

गृहमंत्री श्री अमित शाह के हिन्दी के पक्ष में प्रस्तुत वक्तव्य-‘भारत’ विभिन्न भाषाओं का देश है और हर भाषा का अपना महत्व है मगर पूरे देश की एक भाषा होना अत्यंत आवश्यक है जो विश्व में भारत की पहचान बने। आज देश को एकता की डोर में बांधने का काम अगर कोई एक भाषा कर सकती है तो वह सर्वाधिक बोली जाने वाली भाषा हिन्दी ही है।’- का विरोध करने वाली पश्चिम बंगाल की मुख्यमंत्री ममता बनर्जी और अन्य नेताओं को नेताजी सुभाष चंद्र बोस का यह कथन स्मरण रखना चाहिए कि ‘हिन्दी के विरोध का कोई भी आंदोलन राष्ट्र की प्रगति में बाधक है।’ अतः राष्ट्र की प्रगति के लिए हिन्दी की सर्वस्वीकार्यता आवश्यक है।

“निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल”- भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का यह कथन विगत डेढ़ सौ वर्षों से निज भाषा की स्वीकार्यता का समर्थन कर रहा है। राज्य एवं क्षेत्रीय स्तर पर स्थानीय भारतीय भाषाओं की प्रतिष्ठा ही निज भाषा की उन्नति है और उनके साथ-साथ राष्ट्र स्तर पर निज भाषा के रूप में हिन्दी की स्वीकार्यता आज की महती आवश्यकता है। विदेशी सेवाओं और वैश्विक संदर्भों में रुचि रखने वाले भारतीयों के लिए अंग्रेजी, मंदारिन, रूसी, जर्मनी, जापानी, अरबी आदि भाषायें आवश्यक हो सकती हैं किन्तु राष्ट्रीय क्षितिज पर प्रत्येक भारतीय के लिए हिन्दी और क्षेत्रीय स्तर पर उसके राज्य की भाषा का ज्ञान हमारी प्रगति की अनिवार्य शर्त है।

डॉ. कृष्णगोपाल मिश्र

विभागाध्यक्ष-हिन्दी

शासकीय नर्मदा स्नातकोत्तर महाविद्यालय

होशंगाबाद म.प्र.